

## उत्तर प्रदेश के विन्ध्य क्षेत्र में आदिवासी कला : उद्भव, विकास एवं प्रवृत्तियाँ

शशिकांत यादव

पी-एच0डी0

सहायक प्राध्यापक

इतिहास विभाग

डी0ए0वी0पी0 कॉलेज

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी, उ0प्र0

प्रारम्भिक आदिवासी कला के उद्भव का साक्ष्य प्राचीन प्रस्तर शिलाओं पर बनाई गई कलाकृतियों के रूप में दिखता है। विन्ध्य क्षेत्र में स्थित मिर्जापुर, सोनभद्र व चकिया के गुहा चित्रों तथा नृत्य, संगीत, लोक-गीत इत्यादि से इस क्षेत्र के आदिवासियों के सांस्कृतिक जीवंतता का पता चलता है। विन्ध्य क्षेत्र की आदिवासी कलाएँ आदिम काल से समकालीन कला जगत तक विभिन्न मान्यताओं और परम्पराओं के परिवर्धन के साथ चली आ रही हैं। आदिवासी कला समुदाय से प्रचलित होकर समाज और समाज से संस्कार, संस्कार से संस्कृति तथा संस्कृति से आस्था, आस्था से लोक जीवन और लोक जीवन से लोक कला का स्वरूप ग्रहण करती हैं।<sup>1</sup>

आदिवासी कला मुख्यतः आदिवासी समाज व जीवन के कौशलपूर्ण कार्य को दर्शाती है। विन्ध्य क्षेत्र के आदिवासियों में मुख्य रूप से बैगा, गोंड, परहिया, खरवार, चेरों, पनिका, कोल आते हैं।<sup>2</sup> इन आदिवासियों के कौशलपूर्ण कला से ही इनकी विशेष पहचान होती है। आदिवासी कलाकार लोक जीवन से जुड़कर जो कुछ भी बनाते हैं; उनमें उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों तत्व विद्यमान रहते हैं।

प्रथम दृष्टया आदिवासी चित्र कला में पशु-पक्षियों तथा मानव जीवन के विविध पक्षों की रचनात्मकता देखने को मिलती है। इनकी कलाकृतियाँ मानव जीवन और प्रकृति के रिश्ते को दर्शाती हैं। आदिवासी कला का अपना रचना विधान होता है। ये व्यक्तिनिष्ठ व स्वतंत्र अभिव्यक्तिपूर्ण होती हैं। यही कारण है कि इन कलाकृतियों में रचनात्मकता के साथ-साथ विविधता और मौलिकता दिखाई देती है।

### विन्ध्य क्षेत्र में आदि चित्र कला के विविध आयाम

स्रोतों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत का स्वरूप बृहद और विस्तृत था। इसकी संस्कृति अपने में व्यापक कला परिदृश्य समाहित किए हुई थी। यद्यपि भारत में अनेकों चित्रित गुफाएँ प्राप्त हुई हैं; तथापि इनमें उत्तर प्रदेश के विन्ध्य क्षेत्र के चित्रों का अपना अलग ही महत्व है। इन गुफाओं में सहस्राधिक चित्र बने हुए हैं; जो प्रागैतिहासिक हैं। मिर्जापुर और सोनभद्र के अधिकतर चित्र सोन के आस-पास पहाड़ी इलाकों में, जरगो तथा कुछ मुखादरी व कर्मनाशा के तट पर बने हुए हैं। ये चित्र ऐसे स्थलों पर पाए गये हैं, जिससे स्वभावतः यह निष्कर्ष निकाला

<sup>1</sup> मीना, जनक सिंह एवं मीना, कुलदीप सिंह, *भारत के आदिवासी*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ0 158

<sup>2</sup> नारायण, प्रदीप, *सोनभद्र की आदिवासी संस्कृति*, विन्ध्य न्यूज नेटवर्क प्रा0लि0, वाराणसी, 2015, पृ0 14

जा सकता है कि आदिम मानव को रहने के लिए सुरक्षित जगह और जल की उपलब्धता; यही दो सर्वाधिक अनिवार्यताएँ थीं। इसलिए मानव ने ऐसे स्थानों (गुफाओं) का चयन किया होगा। आदिम मानव इन गुफाओं में निवास करते थे। वह अवकाश के क्षणों में उसे सजाने-सवारने के ख्याल से उनमें चित्रांकन भी करते थे। चित्रांकन के लिए वह आसानी से उपलब्ध प्राकृतिक रंगों जिसमें प्रायः लाल, गेरू, पीला, काला, लाइमस्टोन व अन्य रंग के पत्थरों को पीसकर उसमें जानवरों की चर्बी आदि डालकर एक ऐसा लेप तैयार करता था; जो बहुत आसानी से मिटता नहीं था और हजारों वर्षों के आँधी-पानी-तूफान व अन्य प्राकृतिक आपदाओं से बचा रहता था।<sup>3</sup> ये चित्र पानी से साफ कर देने से चमक उठते हैं। इन्हें देखकर ऐसा लगता है कि कोई चित्रकार इन्हें अभी बनाकर गया हो।

इन गुहा चित्रों को शैली के आधार पर पाँच भागों में बाँटा जा सकता है – पूरक शैली, अर्द्धपूरक शैली, रेखाशैली, अलंकृत शैली और श्रेण्यांकन शैली।<sup>4</sup> ये चित्र बहुत सुन्दर तो नहीं हैं; परन्तु ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। इन आदिकालीन गुहाचित्रों को जब वर्गीकृत किया जाता है, तो पहले प्रकार में पशु-आकृतियाँ बैल, भैंस, हाथी, घोड़ा, शेर, चीता, सूअर, भालू, बारहसींगा, गैडा, नीलगाय, हिरन, कुत्ता, खरगोश, ऊँट, बकरी, बिल्ली, सर्प, बिच्छु, मगरमच्छ, घड़ियाल, छिपकली, मछली, मोर, मुर्गा, बन्दर इत्यादि के चित्र बने हुए हैं। इनमें से बहुत से जीव-जन्तु मनुष्य के सहचर भी थे।

दूसरे प्रकार के चित्र मनुष्य के हैं, पुजारी, कृषक, राजा, प्रजा, अपराधी, चरवाहा, यात्री, सहयोगी, सहयात्री इत्यादि के हैं। इनमें महिला व पुरुष दोनों ही चित्रित हैं। शिशु और बालक के चित्र भी दृष्टव्य हैं। स्त्रियों का चित्र, नर्तकी, पत्नी, माता एवं कलाकर्त्री के रूप में चित्रित हैं। यहाँ महिला-पुरुष दोनों को समानता के साथ में चित्रित किया गया है; जिससे पता चलता है कि नर-नारी समाज में समान थे और पूरे परिवार के लोग आपस में प्रेम-भाव से रहते थे। अधिकतर मानवाकृतियाँ वस्त्रविहीन हैं। यहाँ कुछ ऐसे चित्र भी प्राप्त हुए हैं; जिसमें मानव की आकृतियाँ आभासी रूप में चित्रित है। इन चित्रों में आँख, कान, नाक, मुँह अलग से नहीं दिखाये गये हैं। इनके बाल बड़े-बड़े हैं। इनमें श्रृंगार-प्रसाधनों का अभाव है।

तीसरे प्रकार के चित्र आखेट-दृश्य हैं। मानव अपने आरम्भिक दौर में जंगली जानवरों का शिकार करके अपनी आजिविका चलाता था। ऐसे चित्र न केवल मिर्जापुर की गुफाओं में हैं, अपितु सोनभद्र व चकिया आदि स्थानों में भी पाये गये हैं। मिर्जापुर में ये चित्र भल्दरिया, लोहरी, विंढमप्रपात, लखनिया, घोड़ामागर, अहरौरा, पंचमुखी, चनाइनमान, मुखादरी, सीता कुण्ड, केरवाघाट इत्यादि स्थलों पर पाये गये हैं।<sup>5</sup> इन चित्रों में आखेटकों को भी वस्त्र-विहीन दर्शाया गया है; जो तीर-कमान से शक्तिशाली जानवरों को मार गिराते रहे होंगे। वे आदिवासी जानवरों को मारने के बाद जश्न मनाते थे और नाच-गाने का आयोजन भी करते थे। चनाइनमान, केरवाघाट, विजयगढ़, घोड़मांगर की गुफाओं में गैंडे के शिकार के दृश्य दर्शनीय हैं।<sup>6</sup> एक चित्र में बाण लगे गैंडे को प्राणरक्षा के लिए व्याकुल दिखाया गया है; यह अत्यन्त कारुणिक है। इसी प्रकार सीताकुण्ड, हिरन-आखेट, कण्डाकोर में साभर के आखेट, लिखनियाँ में बारहसिंगा के आखेट, ढोकवा

<sup>3</sup> केसरी, अर्जुनदास, *नाचता गाता पहाड़*, लोकरूचि प्रकाशन, राबर्टसगंज, सोनभद्र, 2011-12, पृ 88

<sup>4</sup> केसरी, अर्जुनदास, वही, पृ 89

<sup>5</sup> केसरी, अर्जुनदास, *शौलाश्रित गुहाचित्र*, लोकरूचि प्रकाशन, राबर्टसगंज, सोनभद्र, 1995, पृ 42-69

<sup>6</sup> केसरी, अर्जुनदास, *नाचता गाता पहाड़*, लोकरूचि प्रकाशन, राबर्टसगंज, सोनभद्र, 2011-12, पृ 90

महरानी में शाही के आखेट, केरवाघाट में महिष के आखेट, लोहरी में मशाल जलाकर बाघ के आखेट व कण्डाकोर, लिखनियाँ, मुखा, चनाइनमान की गुफाओं में उपलब्ध हाथी के आखेट के दृश्य महत्वपूर्ण हैं।<sup>7</sup>

चौथे प्रकार के चित्र युद्ध-दृश्य के हैं। युद्ध, प्रेम मानव की सहज भावनाएँ हैं। उस काल में युद्ध तीर-कमान, पत्थर धारदार टुकड़े, पत्थर बरछे-भाले तथा जानवरों की हड्डियों से किये जाते थे। धनुष-बाण का युद्ध मनुष्य के आदिम अवस्था का परिचय है। ऐसे चित्र मिर्जापुर, सोनभद्र क्षेत्र की प्रायः सभी गुफाओं में प्राप्त हैं। कोहबर व लिखनीयाँ में गजा-रोहियों के हाथ में ढाल, कृपाण तथा भाले वाले चित्र दिखते हैं। इसी प्रकार मुखद्री में हस्थी आरोहियों के युद्ध का दृश्य भी देखने को मिलता है। इन चित्रों में लड़ते हुए, हाथी-सवारी करते हुए, सिर काटते व दोनों तरफ से वार संधान करते हुए तथा लड़ते-भागते, पीछा करते, अनेक चित्र प्राप्त हुए हैं।

पाँचवें प्रकार के चित्रों में नृत्य, संगीत तथा पूजा-आराधना के प्रमुख हैं। चनाइनमान के चित्रों में आदिवासियों द्वारा व्यक्ति नाव में बैठकर नृत्य करते दिखाया गया है।<sup>8</sup> लिखनियाँ, पंचामुखी, केरवाघाट, विजयगढ़ इत्यादि में पँक्तिबद्ध, नर्तक-नर्तकियों के चित्र बनाये हुए मिलते हैं। इन चित्रों में व्यक्ति हाथ में तुरही, भोपा जैसे वाद्ययंत्र लेकर उन्हें बजाते हुए दिखते हैं। चनाइनमान में एकाकी नृत्य का चित्र भी उपलब्ध है। जिसमें एक स्त्री नन्हें शिशु को अपनी पीठ में लेकर नाचते हुए चित्रांकित कि गई है।

उपरोक्त चित्रों के अतिरिक्त नौकायन, यात्रा, आमोद-प्रमोद, शव यात्रा, घायल की परिचर्या, स्वास्तिक, हथेली, चौक, वेदी, चंद्रमा, पृथ्वी, बस्ती, गोचारण, अग्नि प्रयोग, पात्र निर्माण, शहद संचय, पालकी यात्रा, स्त्री-पुरुष मिलन, अलिंगन-चुंबन, शिशुपालन, रक्षा आदि से सम्बन्धित चित्र भी बने मिलते हैं।

इन सम्पूर्ण चित्रों के अध्ययन का कार्य अधिक कठिन है। संभवतः सोनभद्र, मिर्जापुर में अभी भी सैकड़ों अनदेखी गुफाएँ हैं। जिनके अनुसंधान का कार्य अभी शेष है। ये गुफाएँ तेजी से नष्ट हो रही हैं। यदि इनका संरक्षण व संवर्द्धन नहीं किया गया तो वह दिन दूर नहीं; जब आदिवासियों की प्राचीनतम संस्कृति के अवशेष विनष्ट हो जायेंगे और उनकी समृद्ध संस्कृति के साक्ष्य सदा के लिए मिट जायेंगे।

इसके अलावा भित्तिचित्र भी गुहाचित्रों की ही अनुकृति है। वास्तु-शिल्प का ज्ञान होने से पूर्व मानव शैलाश्रयों में चित्र बनाया करता था। उन दिनों वह गुफाओं में ही रहता था। वह उन गुफाओं में चित्र बनाता था। इन चित्रों को देखकर उसकी कलाप्रियता, सौन्दर्यानुभूति का भी परिचय मिलता है। बाद में जब उसने वास्तु कला सीखी और जब से वह घर बनाने लगा तभी से वह सुन्दर कलाकृतियों के द्वारा घरों को सजाने भी लगा था। आज भी शादी के दिन कोहबर सजाने और वर-वधू को कोहबर के पास ले जाने की प्रथा भारतीय समाज में प्रचलित है।<sup>9</sup> इसी कारण गुहा चित्रों को भी कही-कही कोहबर के नाम से भी जाना जाता है। कोहबर घर के अन्दर के दीवार पर प्रायः लाल, पीले, हरे रंग से सजाया जाता है। कोहबर में विभिन्न चित्र, जैसे – पूजा-पाठ, देवी-देवता, नर्तक-नर्तकियों, सूर्य-चंद्रमा, पृथ्वी,

<sup>7</sup> केसरी, अर्जुनदास, वही, पृ० 90

<sup>8</sup> केसरी, अर्जुनदास, *शैलाश्रित गुहाचित्र*, लोकरूचि प्रकाशन, राबर्टसगंज, सोनभद्र, 1995, पृ० 43

<sup>9</sup> Sherpa, Pemba Chhiring, *The Feminine Principle in Kohber Painting : A Case of Mithila Cultural Study*, www.academicjournal.in, p. 187.

पालकी, अशवारोही, कहार, हस्थी-आरोही, गाय-बैल, घोड़ा, ऊँट-आरोही, शेर-बकरी, हाथी इत्यादि के चित्र बनाये जाते हैं। चौपन में एक कोहबर चित्र एक मीटर लम्बा व आधा मीटर चौड़ा मिला है; जिसे सम्भवतः किसी वृद्ध आदिवासी महिला ने बनाया था।<sup>10</sup> लगता है कि कला की यह प्रवृत्ति अब उसी पीढ़ी के साथ समाप्त हो जायेगी। अब कोहबर का चित्र बनाने के लिए भी बूढ़ी, काकी और दादी को खोजना पड़ता है। ये सभी चित्र हमारे मानव संस्कृति की धरोहर हैं, जो आदिवासी कला को ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करने का काम कर रहे हैं।

### लोक कला व विन्ध्य क्षेत्र के आदिवासी

वनवासी-आदिवासी प्रकृति के सानिध्य में रहना पसंद करते हैं। इसी प्रकार वन के जीव-जन्तु व वनचर भी प्रकृति प्रेमी होते हैं। वन्य जीव और मनुष्यों के लिए वन ही जीवन है। वन्य जीव, वनवासियों के सबसे प्रिय मित्र होते हैं। ईश्वर की संरचना प्रकृति है; मानव प्रकृति के सम्मिश्रण तथा क्रियाकलापों से बना यह जैविक संसार अद्भुत है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामचरित मानस में कहा है –

“ईश्वर अंश जीव अविनासी।  
चेतन अमल सहज सुखरासी।।”<sup>11</sup>

इस सूक्ति का भाव यह है कि ईश्वर, प्रकृति व जीव एक-दूसरे के सापेक्ष है। आदिकाल का मानव जब गुफाओं में रहता था तो उस समय अपने निवास स्थान वाली गुहाओं को वन्य जीव के चित्रों से सजाता था। सोनभद्र के पंचमुखी, चनाइनमान, मुखवादरी, कण्डा कोठा, विजयगढ़ इत्यादि गुफाओं में जो हजारों चित्र शेर, चीता, गैंडा, हाथी, भालू, बंदर, बिच्छु, सर्प, तोता, मैना, मोर, नीलगाय, अजगर, सांभर, सूअर, घड़ियाल इत्यादि के मिले हैं, वे इस बात के प्रतीक हैं कि मनुष्य और जंगल के जीव-जन्तुओं के बीच का सम्बन्ध बहुत मधुर और मित्रवत था।<sup>12</sup>

औद्योगिकीकरण व नगरीकरण के दौर में सरकारों के फैसले से वन्य जीव और आदिवासी समुदायों को भारी नुकसान उठाना पड़ रहा है। अकेले सोनभद्र में ही आदिवासियों व वन्य जीवों का बहुत नुकसान हुआ है। इसका दुष्परिणाम आज हमारे सामने है। सोनभद्र में आदिवासियों के संख्या का एक बड़ा हिस्सा नक्सली गतिविधियों में लिप्त होने लगा है। जबकि स्वतंत्रता के पूर्व उनके हाथों में मदाल, बांसुरी, शहनाई, नगाड़ा ही सुशोभित थे और वह अपने मधुर नृत्य-गीत से वनों के वातावरणों को खुशनुमा किये हुए थे।

मिर्जापुर, सोनभद्र व चकिया में निवास करने वाले गोंड, खरवार, बैगा, पनिका, परहिया, अगरिया, कोल और आदिवासियों कि आजीविका के मुख्य साधन वन व वन्यजीव ही है।<sup>13</sup> उनका वे शिकार करते थे, जिस पर सरकार द्वारा रोक लगा दी गयी है। ये आदिवासी वन्य-जीवों से चमड़े व सींग भी प्राप्त करते हैं। ये उससे वाद्ययंत्र बनाकर उसे बजाकर, गीत गाकर अपनी पारम्परिक रीति-रिवाजों के अनुकूल संतुलित जीवन-यापन करते रहें हैं। अब जरूर वे खाल व सींग के अभाव में ढोल, निशान, नगाड़ा, मादल, डफला आदि वाद्ययंत्र नहीं बना पा रहे हैं। सींग से आदिवासी निशान बनाते थे, जो अब लुप्तप्राय हो चुका है। लगभग पचहत्तर साल पहले तक ये आदिवासी बारहसिंघा व हिरन के सींग को

<sup>10</sup> केसरी, अर्जुनदास, *नाचता गाता पहाड़*, लोकरुचि प्रकाशन, राबर्टसगंज, सोनभद्र, 2011-12, पृ 91

<sup>11</sup> दास, तुलसी, *श्रीरामचरित मानस*, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2006, पृ 153

<sup>12</sup> केसरी, अर्जुनदास, *शैलचित्र गुहाचित्र*, लोकरुचि प्रकाशन, राबर्टसगंज, सोनभद्र, 1995, पृ 42-69

<sup>13</sup> शिवेन्द्र, रामनाथ, *सोनभद्र प्राचीन*, आनन्दकानन प्रेस, वाराणसी, 2005, पृ 100

घीसकर दवाइयों भी बनाते थे, जो अब न के बराबर है। आदिवासियों द्वारा हाथी दाँत का भी अच्छा व्यवसाय था, जो अब आजादी के बाद समाप्तप्राय है। तात्पर्य यह है कि आदिवासियों के लिए वन व वन्य-प्राणी मित्र थे, जीविका के साधन थे और औषध भी थे।

### नृत्य कला और नाट्यकला

नृत्य, नाट्य, संगीत आदिवासियों के मनोरंजन और ज्ञान का परम्परागत स्रोत रहा हैं। लोक-नृत्यों की उपयोगिता आज भी इस सांस्कृतिक संक्रमण के काल में कम नहीं हुई है। भले ही इनकी उपेक्षा हो रही हो। जहाँ तक विन्ध्य क्षेत्र का सवाल है, यह क्षेत्र राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान और लोकप्रियता को बनाये हुए है। इन लोक नृत्य कलाओं व नाट्य कलाओं का संक्षिप्त विवरण निम्नवत् हैं –

करमा आदिवासियों का विश्व प्रसिद्ध लोक नृत्य है।<sup>14</sup> प्रायः सभी आदिवासी इसे भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। इस लोक नृत्य में करमा देवी और करमा देव की पूजा कदम वृक्ष की डाल को प्रतीक मानकर प्रायः हर शुभ अवसर पर खुले आकाश में और चाँदनी रात में कि जाती है। चौबीस से अड़तालीस घण्टे के इस लोक नृत्य या पारम्परिक अनुष्ठान में स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सभी घेरा या अर्द्धघेरा बनाकर मादल के थाप पर शुभ अवसरों के दिन इस नृत्य को करते हैं। यह नृत्य पुरुषार्थ का भी प्रतीक है। इसलिए फसल बोते समय व उत्तम फसल की कामना के लिए इसे करने की परम्परा रही है। आदिवासी करमा गीतों में जीवनोपयोगी, समाजोपयोगी, परिवार, ज्ञान-विज्ञान, वैराग्य भक्ति की बातें होती हैं। करमा नृत्य के समय युवक व युवती के पावों के अंगूठे अगर छू जाते हैं तो वहीं उनका विवाह भी हो जाता है।

अगरिया आदिवासी नवरात्र के अवसर पर मड़हर, विन्ध्यवासिनी देवी, ज्वालामुखी देवी, बन्सरा देवी, कुड़ारी देवी तथा अन्य देवीयों की पूजा, बाना सांगया, त्रिशूल (लोहे का बना) से जीभ में छेद कर, हथेली पर अंगीठी जलाकर, जहमा लेकर घेरा या अर्द्धघेरा बनकर करते हैं।<sup>15</sup> ये आदिवासी देवी गीत के साथ ढोलक, झाल, मजीरा व मादल भी बजाते हैं। यह एक प्रकार से प्रकृति कि देवी के शक्ति-आराधना व साधना, उपासना से सम्बन्धित नृत्य आयोजन है।

दोमकच नृत्य घसिया आदिवासियों द्वारा प्रायः हर शुभ अवसर पर विशेष रूप से विवाह के अवसरों पर मादल, दफला, ढोल, बांसुरी, शहनाई, सिंघाड़ा इत्यादि वाद्यों को जोड़े में लेकर, घेरा या अर्द्धघेरा बनाकर किसी खुली जगह में किया जाता है।<sup>16</sup> इसमें लगभग पन्द्रह कलाकार (स्त्री-पुरुष) होते हैं। इन आदिवासियों के मान्यता के अनुसार यह नृत्य छुआछुत की भावना को मिटाने की खुशी में प्रारम्भ किया गया है।

कोल-दहकी नृत्य कोल आदिवासियों की नृत्यशैली का लोकगीत है, जिसे कलाकार किसी खुली जगह या वृक्ष के नीचे ढोल बजाकर गाते हुए करते हैं। यह उत्तेजित व उत्साहित करने वाला भावनात्मक लोकनृत्यगीत है, जिसे कौड़े पर अथवा पीरम्ही, दख्खनही, दहइत और बड़ादेव की पूजा के अवसर पर विशेष रूप से ढोल-नगाड़ा बजाकर किया जाता है।

<sup>14</sup> श्रीवास्तव, कमलस्वरूप, भारतीय जन-जातीय संस्कृति, आदि बुक्स, दिल्ली, 2013, पृ० 205

<sup>15</sup> नारायण, प्रदीप, सोनभद्र की आदिवासी संस्कृति, विन्ध्य न्यूज नेटवर्क प्रा० लि०, वाराणसी, 2015, पृ० 70

<sup>16</sup> श्रीवास्तव, कमलस्वरूप, भारतीय जन-जातीय संस्कृति, आदि बुक्स, दिल्ली, 2013, पृ० 201

कहरही, कहार नृत्यशैली का गीत किसी भी शुभ अवसर पर अथवा अवकाश के क्षणों में कौड़ पर बैठकर बिना किसी साज-बाज के घड़ा बजाकर किया जाता है। यदा कदा किसी भी वक्त कलाकार वाद्य के लय पर नृत्य भी कर लेते हैं। वादक के हाथ में बाँस की खमची होती है। जिससे सुरताल निकाला जाता है। कभी-कभी इस नृत्य के दौरान आपस में सवाल जवाब भी होता है।

सोनभद्र के सोन घाटी में निवास करने वाले आदिवासी धरकार जो अपने को वेनुवंशी क्षत्रिय कहते हैं। वे बाँसुरी और शहनाई बनाते हैं। उसे बजाकर निशान व डफला के थाप पर पाँव में घुँघरू बाँधकर घेरा बनाकर नृत्य करते हैं। यह हर खुशी के अवसर पर दूराशीन, विरादिया देवमत और दुल्हादेव की पूजा अराधना करते हैं और गीत गाते हैं।

मुसहर आदिवासी चुहे का शिकार करके उसी की खुशी में या देवी-देवता के पूजा के अवसर पर या अवकाश के क्षणों में अपनी बस्ती में दो दलों में विभाजित होकर, झण्डा गाड़कर हुडुक बाजा बजाकर चौबीस घण्टे तक नृत्य करते हैं। इस नृत्य में जो दल विजयी होता है, उसका झण्डा ऊँचा किया जाता है।

### लोकगायन एवं विन्ध्य क्षेत्र

विन्ध्य क्षेत्र के जनपदों में अनेक लोकगाथाएँ और लोकगायन प्रचलित है, जिनकी अभिव्यक्ति भोजपुरी भाषा में व अन्य स्थानीय बोलियों में देखने को मिलती है। यहाँ यह स्पष्ट करना होगा कि इस अध्ययन क्षेत्र में हिन्दी भाषा व उसकी सहायक बोलियों का उपयोग किया जाता है। यहाँ लोरिकायन, सोरठी, बिहुला जैसी अनेक लोक कलाएँ गीतों के माध्यम से समाज में प्रचलित है। लोरिकायन अभीर जाति के लोकनायक लोरिक और मंजरी के विवाह के प्रसंग को शौर्य और वीरता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास है। लोरिकायन की सम्पूर्ण गायन परम्परा लगभग 22,000 से अधिक पंक्तियों में विस्तृत है।<sup>17</sup> मौखिक परम्परा में गाये एवं सुनाए जाने वाली यह लोक-कथा सती, प्रेम, शौर्य, रहस्य और रोमांच के कथा प्रसंगों को अपने में सदियों से समेटे हुए है। रहस्य तथा रोमांच की यह लोक-कथा जंगल में आदिवासियों के जीवनचर्या के साथ जुड़ी हुई है।

महोबा के आल्हा-उदल की कथाओं से सम्बन्धित 'आल्हा' लोकगाथा विन्ध्य क्षेत्र के सोनभद्र, मिर्जापुर और चकिया क्षेत्र में सर्वत्र गायी जाती है। इसे नट जो आदिवासी जीवन परम्परा को समेटे हुए है। ढोल बजाकर गाते हैं। वीर रस प्रधान यह लोकगाथा कुल 52 खण्डों में विभक्त है। दुर्भाग्य से आजादी के बाद के सांस्कृतिक अतिक्रमण ने इस वाचिक आदि परम्परा के लोक गायन के मूल स्वरूप को विकृत कर दिया है। अब इसे गाने व सुनने वालों की कमी हो गई है।

'विजयमल्ल' गाथा भी अत्यन्त ही महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय है। लगभग 2500 पंक्तियों की इस गाथा का संग्रह अर्जुनदास केसरी ने किया है।<sup>18</sup> यह सम्पूर्ण काव्य परम्परा आदि समाज की निधि है, जिसे हमें संरक्षित संवर्द्धित करना है।

<sup>17</sup> पाण्डेय, श्याम मनोहर, लोक महाकाव्य लोरिकायन, साहित्य भवन प्रा0लि0, इलाहाबाद, 1966, भूमिका देखें।

<sup>18</sup> केसरी, अर्जुनदास, विन्ध्यांचल मण्डल समग्र, लोकरुचि प्रकाशन, राबर्टसेगंज, सोनभद्र, 2009, पृ0 28

प्राचीन 'शोभानयका बंजरवा' नामक लोक गायन परम्परा बंजारे जीवन की कथा है, जो व्यापारियों द्वारा रास्ते में गाई जाती थी। अब इसे गाने वालों की संख्या नहीं के बराबर है। जंगलों में रहने वाले आदिवासी इस लोकगाथा को अपने में समेटे हुए है।

आवश्यकता इस बात की है कि हम इन परम्पराओं को सहेजे और समेटे इसके अतिरिक्त "कजरी" जो विन्ध्य क्षेत्र की अमूल्य लोकगायन निधि है उसे भी हम सहेजे क्योंकि इसके अस्तित्व पर खतरा है। कहते हैं कजला देवी (विन्ध्यवासिनी देवी) के धाम से इस गीत परम्परा का आविर्भाव हुआ है और कजरी पुरी दुनिया में प्रसिद्ध हो पाई है। इसके गीतों में हास परिहास उल्लास व अन्य प्रकार के परिवारिक सम्बन्धों की व्याख्या होती है।

इस आदिवासी बाहुल क्षेत्र में 'बिरहा' एक लोकप्रिय गायन विद्या है, जिसे अभीर जातियाँ गाती हैं। बिरहा में वैराग्य, युद्ध, पराक्रम, शोषण ज्ञान भक्ति व गोचारण के भाव चित्रांकित हैं। सिर पर पंगड़ी बाँधकर मंडली के साथ इसको आने वाले पीढ़ियों में भी स्वीकारा गया है।<sup>19</sup>

इन सभी लोकगायन की परम्पराओं के अतिरिक्त लाचारी, सोहर, गारी, झुमर और भरथरी गायन परम्परा के गीत विन्ध्य क्षेत्र के आदिवासी समाज में प्रचलित हैं। यहाँ हमें एक महत्वपूर्ण संदर्भ यह ध्यान रखना होगा कि इनमें से बहुत कुछ बहुत हद तक आदिवासी परम्परा से अलग भी था। परन्तु अब यह आदिवासी समाज के साथ जुड़ गया है, अर्थात् आजादी के बाद के सांस्कृतिक बदलाव में यह एक महत्वपूर्ण संदर्भ है कि आदिवासी परम्पराओं में ऐसी बहुत सी लोक परम्परायें और लोकगाथाएँ आ चुकी हैं, जो आजादी के बाद के बदलाव के कारण ही संभव हो पायी हैं।

इस सम्पूर्ण क्षेत्र में लोक परम्परा के मौखिक संदर्भ, जो लोकसंगीत के मुखर माध्यम थे, वे सहस्राब्दियों से वनों पहाड़ों के लोकसंगीत बने हुए हैं। इनके लय और ताल थोड़े बहुत आजादी के बाद जरूर बदले हैं, फिर भी ये जंगलों, पहाड़ों हरवाहों, चरवाहों के कणों में संकलित हैं। विन्ध्य क्षेत्र के शैलचित्र यह कहते हैं कि प्रागैतिहासिक काल से अब तक इनकी अक्षुण्ण परम्परा रही है। इन्हें बचाना अब आवश्यक है, क्योंकि वंशी, मादल, सिंघाड़ा, सिंघा पर गाए जाने वाले आदिवासी गीतों के संरक्षक अब कम ही मिलते हैं।

### आदिवासी समाज एवं उनके वाद्ययंत्र

नृत्य एवं संगीत के बिना आदिवासी समाज एक जीवित समाज की तरह प्रतीत नहीं होता है। प्रत्येक आदिवासी अपने सुख दुःख की अभिव्यक्ति नृत्य एवं संगीत के माध्यम से करता है। नृत्य संगीत का वाद्ययंत्रों से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

आदिवासी समाज में कई प्रकार के वाद्ययंत्र प्रचलित हैं। प्रागैतिहासिक काल के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि मादल, मोरबाजा, डफला, कसावर, तुरही, बेनु, छड़, तसला, खजड़ी, महुअर, ढोलक, सारंगी, कड़ा, ढोल, तुरही, घुँघरू कड़ा, बाँसुरी, नगाड़ा, निशान आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग आरम्भ से ही आदिवासी समाज में आज तक प्रचलित हैं।<sup>20</sup>

<sup>19</sup> यादव, सविता एवं प्रसाद देवी, ग्रामीण परिवेश में बिरहा लोकगीत : एक समाज शास्त्रिय विश्लेषण, भारतीय समाज शास्त्र समीक्षा, खण्ड-4, अंक-2, जुलाई-दिसम्बर, 2014, academia.edu पृ0 2-3

## निष्कर्ष

समकालिन समाज में आदिवासी समाज अभिजात वर्ग से अपना तालमेल बैठा नहीं पाया है और उसका जीवन बाधित होता रहा है। एकांत में रहने वाला आदिवासी जीवन अब वनों से बाहर औद्योगिक ईकाईयों के इर्द-गिर्द झोपड़ी बनाकर रोजी-रोटी की तलाश में लगा हुआ है। जंगल में बेझिझक करमा गाने वाले लोग अब इस तथाकथित सफेदपोश समाज के सामने नाचने गाने में संकोच करने लगे हैं। इन आदिवासियों को लगता है कि उनके करमा के गीत भी उनकी संस्कृति के घटकों के तरह से विस्थापन के कारण उनसे दूर हो जायेंगे। सही तो यह है कि आदिवासी कला के माध्यम जो करमा और अन्य लोककलाओं के माध्यम पहले खेतीबाड़ी में सहायक होते थे परम्परागत उत्सवों में सहायक होते थे अब वह सिर्फ और सिर्फ भीख माँगने या कहीं दर्शनीय कार्यक्रम करके कुछ धन अर्जित करने का पर्याय मात्र रह गये हैं। उत्सव परम्परा के नाम पर सामान्य सरकारी आयोजनों का हिस्सा भी बनकर रह गये हैं। जरूरत इस बात है कि हम इन कला के माध्यमों को आने वाली पीढ़ियों के लिये बचा ले।

---

<sup>20</sup> मुकर्जी, रवीन्द्र नाथ, *सामाजिक मानव शास्त्र की रूपरेखा*, विवेक प्रकाशन, दिल्ली, 2007, पृ0 341